श्वेताम्बर मूलसंघ एवं माथुर संघ : एक विमर्श

-- प्रो. सागरमल जैन

सामान्यतया जैन विद्या के विद्वानों एवं शोधकर्त्ताओं की यह स्पष्ट अवधारणा है कि मूलसंघ और माथुरसंघ का सम्बन्ध जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा से ही है, क्योंकि जैन अभिलेखों एवं साहित्यिक स्रोतों में मूलसंघ एवं माथुरसंघ के उल्लेख सामान्यतया दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। संयोग से लेखक को जैनविद्या संस्थान की बैठक में लखनऊ जाने का प्रसंग आया और वहाँ उसे डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी आदि के सहयोग से मथुरा की जैन मूर्तियों के संग्रह को देखने का अवसर मिला, वहाँ जब उसने मथुरा से प्राप्त ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की पद्मासन मुद्रा में लगभग 5 फीट ऊंची विशालकाय लेखयुक्त तीन जिन प्रतिमायें देखी, तो उसे एक सुखद आश्चर्य हुआ। क्योंकि इन तीन प्रतिमाओं पर श्वेताम्बर मूलसंघ और श्वेताम्बर माथुरसंघ के उल्लेख पाये जाते हैं जो कि अत्यन्त विरल है। इसके पूर्व तक लेखक की भी यह स्पष्ट अवधारणा थी कि श्वे. परम्परा में किसी भी काल में मूलसंघ और माथुरसंघ का अस्तित्व नहीं रहा है। अतः उसने ध्यानपूर्वक इन लेखों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। सर्वप्रथम लखनऊ म्यूजियम के उस रिकार्ड को देखा गया जिसमें इन मूर्तियों का विवरण था। यह रिकार्ड जीर्ण-शीर्ण एवं टंकित रूप में उपलब्ध है। रिकार्ड को देखने पर ज्ञात हुआ कि उसमें J 143 क्रम की पार्श्वनाथ की प्रतिमा के विवरण के साथ-साथ अभिलेख की वाचना भी रोमन अक्षरों में दी गई है जिसका देवनागरी रूपान्तरण इस प्रकार है--

संवत् 1036 कार्तिकशुक्लाएकादश्यां
श्रीश्वेताम्बरमूलसंघेन पश्चिम वतु (श्थी),
कयं श्रीदेवनिर्मिता प्रतिमा प्रतिस्थापिता।

दूसरी J 144 क्रम की प्रतिमा के नीचे जो अभिलेख है उसका वाचन इस प्रकार दिया गया है --

श्वेताम्बर.... माथुर..... देवनिम्मिता..... प्रतिस्थापिता।

तीसरी J 145 क्रम की मूर्ति पर जो अभिलेख अंकित है उसकी वाचना निम्नानुसार है --

संवत् 1134 श्रीश्वेताम्बर श्रीमाथुरसंघ
श्रीदेवतेति
विनिर्मितापतिमाकृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन तीनों अभिलेखों में से एक अभिलेख में श्वेताम्बर मूलसंघ और दो अभिलेखों में श्वेताम्बर माथुरसंघ का उल्लेख है। वी.ए. स्मिथ ने अपनी कृति 'दि जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्यूटीज आफ मथुरा' में इनमें से दो लेखयुक्त मूर्तियों को प्रकाशित किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि फ्यूरर के अनुसार ये दोनों मूर्तियाँ मथुरा के श्वेताम्बर संघ को समर्पित थीं।

स्व. प्रो. के.डी. बाजपेयी ने भी 'जैन श्रमण परम्परा' नामक अपने लेख में, जो कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर से प्रकाशित 'अर्हत् वचन' पत्रिका के जनवरी 1992 के अंक में प्रकाशित हुआ है, इनमें से दो अभिलेखों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार J 143 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की वाचना इस प्रकार है --

"संवत् 1038 कार्तिक शुक्ल एकादश्यां
श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन पश्चिम...
कार्यां श्री देवनिर्म्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता।"

इसी प्रकार J 145 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख की उनकी वाचना निम्नानुसार है --

"संवत् 1134 श्री श्वेताम्बर श्री माथुर संघ --
श्री देवनिर्मित प्रतिमा कारितेति।"

प्रो. बाजपेयी की J 143 क्रम की प्रतिमा की वाचना फ्यूरर की वाचना से क्वचित् भिन्न है, प्रथम तो उन्होंने संवत् को 1036 के स्थान पर 1038 पढ़ा है दूसरे मूलसंघेन को (माथुर) संघेन के रूप में पढ़ा है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों वाचनाओं 'श्वेताम्बर' एवं 'माथुरसंघ' के सम्बन्ध में वाचना की दृष्टि से किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है। मूलसंघेन पाठ के सम्बन्ध में थोड़े गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा है। सर्वप्रथम हम इसी सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

जब मैंने J 143 क्रमांक की मूर्ति के लेख को स्वयं देखा तो यह पाया कि उसमें उत्कीर्ण श्वेताम्बर शब्द बहुत ही स्पष्ट है और अन्य दो प्रतिमाओं में भी श्वेताम्बर शब्द की उपस्थिति होने से उसके वाचन में कोई भ्रान्ति की संभावना नहीं है। 'मूल' शब्द के पश्चात् का संघेन शब्द भी स्पष्ट रूप से पढ़ने में आता है किन्तु मध्य का वह शब्द जिसे फ्यूरर ने 'मूल' और प्रो. बाजपेयी ने 'माथुर' पढ़ा है, स्पष्ट नहीं है। जो अभिलेख की प्रतिलिपि मुझे प्राप्त है और जो स्मिथ के ग्रन्थ में प्रकाशित है उसमें प्रथम 'म' तो स्पष्ट है किन्तु दूसरा अक्षर स्पष्ट नहीं है, उसे 'ल' 'लु' और 'थु' इन तीनों रूपों में पढ़ा जा सकता है। उसे 'मूल' मानने में कठिनाई यह है कि 'म' के साथ 'ऊ' की मात्रा स्पष्ट नहीं है। यदि हम उसे 'माथुर' पढ़ते हैं तो 'म' में आ की मात्रा और र का अभाव पाते हैं। सामान्यतया अभिलेखों में कभी-कभी मात्राओं को उत्कीर्ण करने में असावधानियां हो जाती हैं। यही कारण रहा है कि मात्रा की सम्भावना मानकर जहां फ्यूरर के वाचन के आधार पर लखनऊ म्यूजियम के उपलब्ध रिकार्ड में 'मूल' माना गया है। वहीं प्रो. बाजपेयी ने 'ऊ' की मात्रा के अभाव के कारण इसे 'मूल' पढ़ने में कठिनाई का अनुभव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया और अन्य प्रतिमाओं में 'माथुर' शब्द की उपस्थिति के आधार पर अपनी वाचना में 'माथुर' शब्द को कोष्ठकान्तर्गत रखकर माथुर पाठ की संभावना को सूचित किया। यह सत्य है कि इस प्रतिमा के लगभग 100 वर्ष पश्चात् की दो प्रतिमाओं में माथुर शब्द का स्पष्ट उल्लेख होने से उनका झुकाव माथुर शब्द की ओर हुआ है किन्तु मुझे जितनी आपत्ति 'मूल पाठ' को मानने में है उससे अधिक आपत्ति उनके 'माथुर' पाठ को मानने में है क्योंकि 'मूल पाठ' मानने में तो केवल 'ऊ' की मात्रा का अभाव प्रतीत होता है जबकि माथुर पाठ मानने में 'आ' की मात्रा के अभाव के साथ-साथ 'र' का भी अभाव खटकता है। इस सम्बन्ध में अधिक निश्चितता के लिए मैं डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी से सम्पर्क कर रहा हूँ और उनके उत्तर की प्रतीक्षा है। साथ ही स्वयं भी लखनऊ जाकर उस प्रतिमा लेख का अधिक गम्भीरता से अध्ययन करने का प्रयास करूँगा और यदि कोई स्पष्ट समाधान मिल सका तो पाठकों को सूचित करूँगा।

मुझे दुःख के साथ सूचित करना पड़ रहा है कि आदरणीय प्रो.के.डी. बाजपेयी का स्वर्गवास हो गया है। फिर भी पाठकों को स्वयं जानकारी प्राप्त करने के लिए यह सूचित कर देना आवश्यक समझता हूँ कि यह J 143 क्रम की प्रतिमा लखनऊ म्यूजियम के प्रवेश द्वार से संलग्न प्रकोष्ठ के मध्य में प्रदर्शित है। इसकी ऊंचाई लगभग 5 फीट है। J 143 क्रम की प्रतिमा के अभिलेख के 'मूल' और 'माथुर' शब्द के वाचन के इस विवाद को छोड़कर तीनों प्रतिमाओं के अभिलेखों के वाचन में किसी भ्रांति की संभावना नहीं है। उन सभी प्रतिमाओं में श्वेताम्बर शब्द स्पष्ट है। माथुर शब्द भी अन्य प्रतिमाओं पर स्पष्ट ही है, फिर भी यहाँ इस सम्बन्ध में उठने वाली अन्य शंकाओं पर विचारकर लेना अनुपयुक्त नहीं होगा। यह शंका हो सकती है कि इनमें कहीं श्वेताम्बर शब्द को बाद में तो उत्कीर्ण नहीं किया गया है ? किन्तु यह संभावना निम्न आधारों पर निरस्त हो जाती है :-

1. ये तीनों ही प्रतिमाएं मथुरा के उत्खनन के पश्चात से शासनाधीन रही हैं अतः उनके लेखों में परवर्ती काल में किसी परम्परा द्वारा परिवर्तन की संभावना स्वतः ही निरस्त हो जाती है। पुनः 'श्वेताम्बर' मूल संघ और माथुर संघ तीनों ही शब्द अभिलेखों के मध्य में होने से उनके परवर्तीकाल में उत्कीर्ण किये जाने की आशंका भी समाप्त हो जाती है।

2. प्रतिमाओं की रचनाशैली और अभिलेखों की लिपि एक ही काल की है। यदि लेख परवर्ती होते तो उनकी लिपि में स्वाभाविक रूप से अन्तर आ जाता।

3. इन प्रतिमाओं के श्वेताम्बर होने की पुष्टि इस आधार पर भी हो जाती है कि प्रतिमा क्रम J 143 के नीचे पादपीठ पर दो मुनियों का अंकन है, उनके पास मोरपिच्छी के स्थान पर श्वे. परम्परा में प्रचलित ऊन से निर्मित रजोहरण प्रदर्शित है।

4. उत्खनन से यह भी सिद्ध हो चुका है कि मथुरा के स्तूप के पास ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के अलग मन्दिर थे। जहाँ दिगम्बर परम्परा का मन्दिर पश्चिम की ओर था, वहाँ श्वेताम्बर मन्दिर स्तूप के निकट ही था।

5. इन तीनों प्रतिमाओं के श्वे. होने का एक आधार यह है कि तीनों ही प्रतिमाओं में श्री देवनिर्मित शब्द का प्रयोग हुआ है। श्वेताम्बर साहित्यिक स्रोतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसमें मथुरा के स्तूप को देवनिर्मित मानने की परम्परा थी। सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस स्तूप को देवनिर्मित कहा गया है[१]। प्रो. के.डी. बाजपेयी ने जो यह कल्पना की है कि इन मूर्तियों को श्री देवनिर्मित कहने का अभिप्राय श्री देव (जिन) के सम्मान में इन मूर्तियों का निर्मित होना है -- वह भ्रांत है[२]। उन्हें देवनिर्मित स्तूप स्थल पर प्रतिष्ठित करने के कारण देवनिर्मित कहा गया है।

श्वे. साहित्यिक स्रोतों से यह भी सिद्ध होता है कि जिनभद्र, हरिभद्र, बप्पभट्टि, वीरसूरि आदि श्वेताम्बर मुनि मथुरा आये थे। हरिभद्र ने यहाँ महानिशीथ आदि ग्रन्थों के पुनर्लेखन का कार्य तथा यहाँ के स्तूप और मन्दिरों के जीर्णोद्धार के कार्य करवाये थे। 9वीं शती में बप्पभट्टिसूरि के द्वारा मथुरा के स्तूप एवं मन्दिरों के पुनर्निर्माण के उल्लेख सुस्पष्ट है[३]। इस आधार पर मथुरा में श्वे. संघ एवं श्वे. मन्दिर की उपस्थिति निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

अब मूल प्रश्न यह है कि क्या श्वेताम्बरों में कोई मूलसंघ और माथुर संघ था और यदि था तो वह कब, क्यों और किस परिस्थिति में अस्तित्व में आया ?

मूलसंघ और श्वेताम्बर परम्परा

मथुरा के प्रतिमा क्रमांक J 143 के अभिलेख के फ्यूरर के वाचन के अतिरिक्त अभी तक कोई भी ऐसा अभिलेखीय एवं साहित्यक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि श्वेताम्बर परम्परा में कभी मूल संघ का अस्तित्व रहा है। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं इस अभिलेख वाचन के सम्बन्ध में भी दो मत हैं -- फ्यूरर आदि कुछ विद्वानों ने उसे 'श्री श्वेताम्बर मूलसंघेन' पढा है, जबकि प्रो. के.डी. बाजपेयी ने इसके 'श्री श्वेताम्बर (माथुर) संघेन' होने की सम्भावना व्यक्त की है।

सामान्यतया मूलसंघ के उल्लेख दिगम्बर परम्परा के साथ ही पाये जाते हैं। आज यह माना जाता है मूलसंघ का सम्बन्ध दिगम्बर परम्परा के कुन्दकुन्दान्वय से रहा है। किन्तु यदि अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यों पर विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि मूलसंघ का कुन्दाकुन्दान्वय के साथ सर्वप्रथम उल्लेख दोड्ड कणगालु के ईस्वी सन् 1044 के लेख में मिलता है[४]। यद्यपि इसके पूर्व भी मूलसंघ तथा कुन्दकुन्दान्वय के स्वतन्त्र-स्वतन्त्र उल्लेख तो

---

१. (अ) सं. प्रो. ढाकी, प्रो. सागरमल जैन, ऐस्पेक्ट्स आव जैनालाजी, खण्ड-२, (पं. बेचरदास स्मृति ग्रन्थ) हिन्दी विभाग, जैनसाहित्य में स्तूप - प्रो. सागरमल, पृ.१३७-८।
(ब) विविधतीर्थकल्प - जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।

२. अर्हत् वचन, वर्ष ४, अंक १, जनवरी ९२, पृ. १०।

३. (अ) विविधतीर्थकल्प - जिनप्रभसूरि, मथुरापुरी कल्प।
(ब) प्रभाकचरित, प्रभाचन्द्र, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ. सं. १३, कलकत्ता, प्र.सं. १९४०, पृ.८८-१११।

४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, सं.४५, हीराबाग, बम्बई ४, प्र.सं. १९५२, लेखक्रमांक १९०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलते है, किन्तु मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दान्वय का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यही फलित होता है कि लगभग ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ा है और अपने को मूलसंघीय कहना प्रारम्भ किया है।

द्राविडान्वय (द्रविड संघ), जिसे इन्द्रनन्दी ने जैनाभास कहा था, भी अङ्गडि के सन् 1040 के अभिलेख में अपने को मूलसंघ से जोड़ती है[१]

यही स्थिति यापनीय सम्प्रदाय के गणों की भी है, वे भी ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अपने नाम के साथ मूलसंघ शब्द का प्रयोग करने लगे। यापनीय पुन्नागवृक्ष मूलगण के सन् 1108 के अभिलेख में '..श्रीमूलसंघद पो (पु)न्नाग वृक्षमूल गणद..' ऐसा उल्लेख है[२]। इसी प्रकार यापनीय संघ के काणूर गण के ई. सन् 1074 के बन्दलिके के तथा ई. सन् 1075 के कुप्पटूर के अभिलेख में 'श्री मूलसंघान्वय काणूरगण' ऐसा उल्लेख है[३]। इस सब से भी यही फलित होता है कि इस काल में यापनीय भी अपने को मूलसंघीय कहने लगे थे।

यापनीय गणों के साथ मूलसंघ के इन उल्लेखों को देखकर डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी आदि दिगम्बर विद्वान यह कल्पना कर बैठे कि ये गण यापनीय संघ से अलग होकर मूलसंघ द्वारा आत्मसात कर लिये गये थे[४]। किन्तु उनकी यह अवधारणा समुचित नहीं है क्योंकि इन अभिलेखों के समकालीन और परवर्ती अनेकों ऐस अभिलेख हैं जिनमें इन गणों का यापनीय संघ के गण के रूप में स्पष्ट उल्लेख है। सत्य तो यह है कि जब कुन्दकुन्दान्वय ने मूलसंघ के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर अन्य संघों को जैनाभास और मिथ्यात्वी घोषित किया, (इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार से इस तथ्य की पुष्टि होती है) तो प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरों ने भी अपने को मूलसंघी कहना प्रारम्भ कर दिया। ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में अचेल परम्परा के यापनीय, द्राविड आदि अनेक संघ अपने साथ मूलसंघ का उल्लेख करने लगे थे। जबकि इन्द्रनन्दि ने इन सभी को जैनाभास कहा था।

इसका तात्पर्य यही है कि ग्यारहवीं शताब्दी में अपने को मूलसंघी कहने की एक होड लगी हुई थी। यदि इस तथ्यों के प्रकाश में हम मथुरा के उक्त श्वेताम्बर मूलसंघ का उल्लेख करने वाले अभिलेख पर विचार करें तो यह पाते है कि उक्त अभिलेख भी अचेल परम्परा के विविध सम्प्रदायों के साथ मूलसंघ का उल्लेख होने के लगभग 60 वर्ष पूर्व का है अर्थात् उसीकाल का है। अतः सम्भव है कि उस युग के विविध अचेल परम्पराओं के समान ही सचेलपरम्परा भी अपने को मूलसंघ से जोड़ती हो।

मूलसंघ प्रारम्भ में किस परम्परा से सम्बद्ध था और कब दूसरी परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोडना प्रारम्भ किया - इसे समझने के लिये हमें सर्वप्रथम मूलसंघ के इतिहास

---

१. जैनशिलालेख संग्रह भाग २, लेखक्रमांक १७८।
२. वही " " २५०।
३. " " " २०७
४. " भाग ३, भूमिका, पृ. २६ व ३२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जानना होगा। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं पर 'मूलसंघानुष्ठिताय' एवं 'मूलसंघेनानुष्ठिताय' ऐसे उल्लेख मिलते हैं[1]। ये दोनों ताम्रपट्टिकायें क्रमशः लगभग ईस्वी सन् 370 और ई. सन् 425 की मानी जाती है। किन्तु इनमें निर्ग्रन्थ, कूर्चक, यापनीय या श्वेतपट आदि के नामों का उल्लेख नहीं होने से प्रथम दृष्टि में यह कह पाना कठिन है कि इस मूलसंघ का सम्बन्ध उनमें से किस धारा से था। दक्षिण भारत के देवगिरि और हल्सी के अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ईसा की पांचवी शती के उत्तरार्ध में दक्षिण भारत में निर्ग्रन्थ, यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट महाश्रमण संघ का अस्तित्व था। किन्तु मूलसंघ का उल्लेख तो हमें ईसा की चतुर्थशती के उत्तरार्ध में मिल जाता है अतः अभिलेखीय आधार पर मूलसंघ का अस्तित्व यापनीय, कूर्चक आदि नामों के पूर्व का है। मुझे ऐसा लगता है कि दक्षिण में इनमें से निर्ग्रन्थ संघ प्राचीन है और यापनीय, कुर्चक, श्वेतपट आदि संघ परवर्ती है फिर भी मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थ संघ मूलसंघ नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत का यह निग्रन्थ महाश्रमण संघ भद्रबाहु (प्रथम) की परम्परा के उन अचेल श्रमणों का संघ था, जो ईसा पूर्व तीसरी शती में बिहार से उडीसा के रास्ते लंका और तमिल प्रदेश में पहुचे थे। उस समय उत्तर भारत में जैन संघ इसी नाम से जाना जाता था और उसमें गण, शाखा आदि का विभाजन नहीं हुआ था अतः ये श्रमण भी अपने को इसी 'निर्ग्रन्थ' नाम से अभिहित करते रहे। पुनः उन्हें अपने को मूलसंघी कहने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि वहां तब उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं था। यह निर्ग्रन्थसंघ यापनीय, कूर्चक और श्वेतपट्ट संघ से पृथक् था यह तथ्य भी हल्सी और देवगिरि के अभिलखों से सिद्ध है क्योंकि इनमें उसे इनसे पृथक् दिखलाया गया है और तब तक इसका निर्ग्रन्थ संघ नाम सुप्रचलित था। पुनः जब लगभग 100 वर्ष के पश्चात् के अभिलेखों में भी यह निर्ग्रन्थसंघ के नाम से ही सुप्रासिद्ध है तो पूर्व में यह अपने को 'मूलसंघ' कहता होगा यह कल्पना निराधार है।

अपने को मूलसंघ कहने की आवश्यकता उसी परम्परा को हो सकती है – जिसमें कोई विभाजन हुआ हो, जो दूसरे को निर्मूल या निराधार बताना चाहती हो: यह बात पं. नाथुराम जी प्रेमी ने भी स्वीकार की है। यह विभाजन की घटना उत्तर भारत में तब घटित हुई जब लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अचेल और सचेल धारा में विभक्त हुआ। साथ ही उसकी अचेल धारा को अपने लिये एक नये नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय तक उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ अनेक गणों, शाखाओं और कुलों में विभक्त था – यह तथ्य मथुरा के अनेक अभिलेखों से और कल्पसूत्र की स्थविरावली से सिद्ध है। अतः सम्भावना यही है कि उत्तर भारत की इस अचेल धारा ने अपनी पहचान के लिये 'मूलगण' नाम चुना हो, क्योंकि इस धारा को बोटिक और यापनीय — ये दोनों ही नाम दूसरों के द्वारा ही दिये गये हैं, जहाँ श्वेताम्बरों अर्थात् उत्तर भारत की सचेल धारा ने उन्हें बोटिक कहा, वहीं दिगम्बरों अर्थात दक्षिण भारत की निर्ग्रन्थ अचेल धारा ने उन्हें यापनीय कहा। डॉ गुलाब चन्द चौधरी ने जो यह कल्पना की कि दक्षिण में निर्ग्रन्थ संघ की

---

१. जैनशिलालेख सं. भाग २, लेखक्रमांक ९० व ९४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थापना भद्रबाहु द्वितीयने की मुझे निराधार प्रतीत होती है[१]। दक्षिण भारत का निर्ग्रन्थ संघ तो भद्रबाहु प्रथम की परम्परा का प्रतिनिधि है -- चाहे भद्रबाहु प्रथम दक्षिण गये हो या नहीं गये हो किन्तु उनकी परम्परा ईसा पू. तीसरी शती में दक्षिण भारत में पहुंच चुकी थी, इसके अनेक प्रमाण भी हैं। भद्रबाहु प्रथम के पश्चात् लगभग द्वितीय शती में एक आर्य भद्र हुए हैं, जो निर्युक्तियों के कर्त्ता थे और सम्भवतः ये उत्तर भारत के अचेल पक्ष के समर्थक रहे थे उनके नाम से भद्रान्वय प्रचलित हुई जिसका उल्लेख उदयगिरि (विदिशा) में मिलता है[२]। मेरी दृष्टि में मूलगण भद्रान्वय, आर्यकुल आदि का सम्बन्ध इसी उत्तर भारत की अचेल धारा से है - जो आगे चलकर यापनीय नाम से प्रसिद्ध हुई। दक्षिण में पहुँचने पर यह धारा अपने को मूलगण या मूलसंघ कहती हो। यह आगे चलकर श्री वृक्षमूल गण, पुन्नागवृक्षमूलगण, कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण आदि अनेक गणों में विभक्त हुई फिर भी सबने अपने साथ मूलगण शब्द कायम रखा। जब इन विभिन्न मूल गणों को कोई एक संयुक्त नाम देने का प्रश्न आया तो उन्हें मूलसंघ कहा गया। कई गणों द्वारा परवर्तीकाल में संघ नाम धारण करने अनेक प्रमाण अभिलेखों में उपलब्ध है। पुनः यापनीय ग्रन्थों के साथ लगा हुआ 'मूल' विशेषण - जैसे मूलाचार, मूलाराधना आदि भी इसी तथ्य का सूचक है कि 'मूलसंघ' शब्द का सम्बन्ध यापनीयों से रहा है। अतः नोणमंगल की ताम्रपट्टिकाओं में उल्लेखित मूलसंघ-यापनीय परम्परा का ही पूर्व रूप है उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ की यह धारा जब पहले दक्षिण भारत में पहुंची तो मूलसंघ के नाम से अभिहित हुई और उसके लगभग 100 वर्ष पश्चात् इसे यापनीय नाम मिला। हम यह भी देखते हैं कि उसे यापनीय नाम मिलते ही अभिलेखों से मूलसंघ नाम लुप्त हो जाता है और लगभग चार सौ पचास वर्षों तक हमें मूलसंघ का कहीं कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। नोणमंगल की ई. सन् 425 की ताम्र पट्टिकाओं के पश्चात् कोन्नूर के ई. सन् 860 के अभिलेख में पुनः मूलसंघ का उल्लेख देशीयगण के साथ मिलता है। ज्ञातव्य है कि इस अभिलेख में मूलसंघ के साथ देशीयगण और पुस्तकगच्छ का उल्लेख है किन्तु कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख नहीं है। ज्ञातव्य है कि पहले यह लेख ताम्रपट्टिका पर था बाद में 12वीं शती में इसमें कुछ अंश जोड़कर पत्थर पर अंकित करवाया गया इस जुड़े हुए अंश में ही कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है[३]। इसके दो सौ वर्ष पश्चात् से यापनीयगण और द्राविड़ आदि अन्य गण सभी अपने को मूलसंघीय कहते प्रतीत होते हैं।

इतना निश्चित है कि मूलसंघ के साथ कुन्दकुन्दान्वय सम्बन्ध भी परवर्ती काल में जुड़ा है यद्यपि कुन्दकुन्दान्वय का सर्व प्रथम अभिलेखीय उल्लेख ई. सन् 797 और 802 में मिलता है[४], किन्तु इन दोनों लेखों में पुस्तकगच्छ और मूलसंघ का उल्लेख नहीं है। आश्चर्य है कि साहित्यिक स्रोतों में तो दसवीं शती के पूर्व मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय का कहीं कोई उल्लेख

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३, भूमिका, पृ. २३।
२. वही, भाग २, लेखक्रमांक ७६१।
३. वही, लेखक्रमांक १२२ एवं १२३ (मन्ने के ताम्रपत्र)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। वस्तुतः कुन्दकुन्द शुद्ध आचार के प्रतिपादक एवं प्रभावशाली आचार्य थे और मूलसंघ महावीर की प्राचीन मूलधारा का सूचक था, अतः परवर्तीकाल में सभी अचेल परम्पराओं ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ना उचित समझा। मात्र उत्तर भारत का काष्ठासंघ और उसका माथुरगच्छ ऐसा था जिसने अपने को मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय से जोड़ने का कभी प्रयास नहीं किया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि काष्ठासंघ मुख्यतः उत्तर भारत से सम्बद्ध था और इस क्षेत्र में 12-13वीं शती तक कुन्दकुन्दान्वय का प्रभाव अधिक नहीं था। वस्तुतः मूलसंघ मात्र एक नाम था, जिसका उपयोग 9-10वीं शती से दक्षिण भारत की अचेल परम्परा की सभी शाखायें करने लगी थी। शायद उत्तर भारत की सचेल परम्परा भी अपनी मौलिकता सूचित करने हेतु इस विरुद का प्रयोग करने लगी हो।

माथुरसंघ

माथुरसंघ भी मुख्यतः दिगम्बर परम्परा का ही संघ है। मथुरा से प्राप्त पूर्व में उल्लेखित तीन अभिलेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी श्वे. माथुर संघ का उल्लेख नहीं मिलता है, लेकिन उपरोक्त तीनों अभिलेखों के आधार पर हम यह मानने के लिए विवश हैं कि ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में श्वे. माथुरसंघ का अस्तित्व था। यद्यपि यह बात भिन्न है कि यह माथुरसंघ श्वेताम्बर मुनियों का कोई संगठन न होकर मथुरा के श्वेताम्बर श्रावकों का एक संगठन था और यही कारण है कि श्वे. माथुर संघ के अभिलेख मथुरा से अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए। यदि श्वेताम्बर माथुर संघ मुनियों का कोई संगठन होता तो इसका उल्लेख मथुरा से अन्यत्र अभिलेखों और साहित्यिक स्रोतों से मिलना चाहिये था। पुनः इन तीनों अभिलेखों में मुनि और आचार्य के नामों के उल्लेख का अभाव यही सूचित करता है कि यह संघ श्रावकों का संघ था।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है उसमें माथुरसंघ नामक एक मुनि संघ था और उसकी उत्पत्ति विक्रम संवत् 953 में आचार्य रामसेन से मानी जाती है[1]। माथुरसंघ का साहित्यिक उल्लेख इन्द्रनंदी के श्रुतावतार और देवसेन के दर्शनसार में मिलता है। इन्द्रनन्दी ने इस संघ की गणना जैनाभासों में की है और निष्पिच्छिक के रूप में इसका उल्लेख किया है। देवसेन ने भी दर्शनसार में इसे निष्पिच्छिक बताया है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति विक्रम सं. 953 में बताई गई है किन्तु उसका सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख अमितगति के सुभाषितरत्नसंदोह में मिलता है जो कि मुंज के शासन काल में (विक्रम 1050) में लिखा गया। सुभाषितरत्न संदोह के अतिरिक्त वर्धमाननीति, धर्मपरीक्षा, पंचसंग्रह, तत्त्वभावना उपासकाचार आदि भी इनकी कृतियां हैं। अभिलेखीय स्रोतों की दृष्टि से इस संघ का सर्व प्रथम उल्लेख विक्रम सं. 1166 में अथुर्ना के अभिलेख में मिलता है। दूसरा अभिलेखीय उल्लेख 1226 के बिजोलिया के मन्दिर का है, इसके बाद के अनेक अभिलेख इस संघ के मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि अपनी उत्पत्ति के कुछ ही वर्ष बाद यह संघ काष्ठासंघ का एक अंग बन गया और परवर्ती उल्लेख काष्ठासंघ की एक शाखा माथुरगच्छ के रूप में मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि हम काल की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि श्वे. माथुरसंघ और दिगम्बर माथुरसंघ की उत्पत्ति लगभग समकालीन है क्योंकि श्वे. माथुरसंघ के उल्लेख भी 11-12वीं शताब्दी में ही मिलते हैं। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में खरतर, तपा, अंचल आदि महत्वपूर्ण गच्छों का उद्भव काल भी यही है, फिर भी इन गच्छों में माथुर संघ का स्पष्ट अभाव होने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माथुर संघ श्वे. जैन मुनियों का संगठन न होकर मथुरा निवासी श्वे. श्रावकों का एक संगठन था। आश्चर्य यह भी है कि इन अभिलेखों में श्वे. माथुरसंघ का उल्लेख होते हुए भी कहीं किसी मुनि या आर्या का नामोल्लेख नहीं है। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्वे. माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का ही एक संगठन था। श्वेताम्बरों में आज भी नगर के नाम के साथ संघ शब्द जोड़कर उस नगर के श्रावकों को उसमें समाहित किया जाता है। अतः निष्कर्ष यही है कि श्वे. माथुरसंघ मथुरा के श्रावकों का संघ था और उसका मुनि परम्परा अथवा उनके गच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं था।

इस लेख के अंत में मैं विद्वानों से अपेक्षा करूँगा कि श्वेताम्बर माथुर संघ के सम्बन्ध में यदि उन्हें कोई जानकारी हो तो मुझे अवगत करायें, ताकि हम इस लेख को और अधिक प्रमाण पुरस्सर बना सकें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org